भूमिका या कार्य की अवधारणा
(THE CONCEPT OF ROLE)

सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में व्यक्ति अपनी आयु, लिंग, जाति, प्रजाति, पेशा, धन या अन्य व्यक्ति योग्यता के आधार पर जिस स्थान या पद को प्राप्त है, वह उसकी स्थिति (status) है और उस स्थिति के में, सामाजिक परम्परा, प्रथा, नियम या कानून के अनुसार, उसे जो भूमिका निभानी है, वह उसका कार्य (ro है अर्थात् प्रत्येक स्थिति का एक क्रिया-पक्ष होता है और उसी को कार्य या भूमिका (role) कहते हैं। इस प्र यह स्पष्ट है कि कार्य की अवधारणा में दो तत्व होते हैं—**एक** तो प्रत्याशाएँ (expectations) और दू क्रियाएँ। स्थिति का निर्धारण समाज द्वारा (प्रथा, परम्परा, नियम, कानून आदि के माध्यम से) होता है। स समाज की कुछ प्रत्याशाएँ प्रत्येक स्थिति के सम्बन्ध में होती हैं और वह यह आशा करता है कि उस स्थिति पर भी व्यक्ति है, वह उन प्रत्याशाओं के अनुरूप क्रिया करेगा अर्थात् अपनी भूमिका निभायेगा। यही क्रिया या भूमि उस स्थिति विशेष का कार्य (role) होगा। उदाहरण के लिए, पिता की स्थिति के साथ समाज की कुछ प्रत्याश जुड़ी हुई हैं अर्थात् पिता की स्थिति में आसीन व्यक्ति से कुछ निश्चित प्रकार की क्रियाओं को करने की आशा की जाती है; उस व्यक्ति से समाज यह आशा करता है कि वह परिवार की देख-रेख करेगा, बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था करेगा, उनके लिए आवश्यकतानुसार त्याग स्वीकार करेगा, उनके व्यवहारों पर नियन्त्रण रखेगा इत्यादि। समाज की आशा या प्रत्याशा के अनुरूप पिता द्वारा की जाने वाली इन क्रियाओं को ही कार्य (role) कहा जाता है। **प्रो. ओल्सेन** (Olsen) ने इसलिए लिखा है कि "सामाजिक कार्य (social role) प्रत्याशाओं और क्रियाओं की एक अन्त:सम्बन्धित व्यवस्था है जो किन्हीं सामाजिक संगठनों का अभिन्न अंग होती है।"[1]

भूमिका या कार्य की परिभाषा (Definition of Role)

श्री लिण्टन (Ralph Linton) के अनुसार, "**कार्य शब्द का प्रयोग किसी स्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार कार्य के अन्तर्गत हम उन सभी मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जिन्हें समाज एक स्थिति-विशेष पर आसीन प्रत्येक एवं सभी व्यक्तियों के लिए निर्धारित करता है।** .... जहाँ तक कि 'कार्य' बाह्य व्यवहार का बोध कराता है, कार्य स्थिति का गतिशील या गत्यात्मक (dynamic) पक्ष है। अर्थात् अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है, उसी को भूमिका या 'कार्य' कहा जाता है।"[2]

Scanned with CamScanner

श्री सार्जेण्ट (Sargent) के शब्दों में, "किसी व्यक्ति का कार्य सामाजिक व्यवहार का वह प्रतिमान अथवा प्ररूप (type) है, जो उसे एक परिस्थिति विशेष में अपने समूह के सदस्यों की माँगों एवं प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होता है।"[1]

श्री फिचर (J.H. Fichter) के अनुसार, "जब बहुत-से अन्त:सम्बन्धित व्यवहार-प्रतिमान एक सामाजिक प्रकार्य (function) के चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं तो उसी सम्मिलन (combination) को हम सामाजिक कार्य (role) कहते हैं।"[2] इसका तात्पर्य यह हुआ है कि 'स्थिति' का एक 'कार्य' पक्ष भी होता है और एक ही कार्य के अन्तर्गत बहुत-से अन्त:सम्बन्धित (interrelated) व्यवहार-प्रतिमानों का समावेश होता है। जैसे—पिता की 'स्थिति' को लीजिए। इस स्थिति का एक कार्य पक्ष है और उसके अन्तर्गत बच्चों का पालन-पोषण, बच्चों की सुरक्षा, परिवार की देख-रेख, बच्चों पर नियन्त्रण आदि अनेक व्यवहार-प्रतिमान आ जाते हैं। ये सभी व्यवहार-प्रतिमान एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और वे सब एकसाथ मिलकर पिता की स्थिति से सम्बन्धित 'कार्य' का बोध कराते हैं। इसलिए **श्री फिचर** ने बहुत-से अन्त:सम्बन्धित व्यवहार-प्रतिमानों के सम्मिलित स्वरूप को 'भूमिका' या 'कार्य' कहा है।

भूमिका या कार्य की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of Role)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर अब हम कार्य की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(1) कार्य एक स्थिति विशेष का एक क्रियात्मक पक्ष है। दोनों ही इस कारण साथ-साथ चलते हैं। एक के सन्दर्भ में ही दूसरे को समझा जा सकता है।

(2) एक स्थिति विशेष पर आसीन एक व्यक्ति से अनेक प्रकार के परस्पर सम्बन्धित व्यवहारों को करने की समाज द्वारा आशा की जाती है। इन्हीं अन्त:सम्बन्धित व्यवहार-प्रतिमानों के एक सम्मिलित रूप को कार्य कहा जाता है।

(3) अत: स्पष्ट है कि 'कार्य' में अन्तर्निहित व्यवहार-समूह समाज की प्रत्याशाओं के अनुरूप होते हैं। अर्थात् 'कार्य' के अन्तर्गत एक व्यक्ति किस प्रकार के व्यवहारों को करेगा, यह हमारी या आपकी इच्छा पर नहीं अपितु समाज की स्वीकृति पर निर्भर होता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक कार्य का एक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार होता है।

(4) सामाजिक मूल्य, आदर्श तथा उद्देश्य 'कार्य' के स्वरूप को परिभाषित करते हैं। अत: सामाजिक मूल्य, आदर्श व उद्देश्य के विपरीत कार्यों (role) को सहन नहीं किया जाता है।

(5) चूँकि इन सामाजिक मूल्य, आदर्श तथा उद्देश्यों में समय-समय पर परिवर्तन होता है, अत: 'कार्य' भी एक परिवर्तनशील धारणा है। सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों में परिवर्तन हो जाने पर 'कार्य' भी बदल जाते हैं। उदाहरणार्थ, परम्परागत हिन्दू परिवार में पत्नी के जो कार्य (role) थे, आज उनमें अनेक परिवर्तन हो गये हैं क्योंकि वर्तमान समय में परिवार तथा विवाह एवं साथ ही स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी मूल्यों तथा आदर्शों में भी अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

(6) प्रत्येक स्थिति और उससे सम्बन्धित कार्य का एक क्षेत्र (field of operation) होता है और प्रत्येक कार्य को उसी क्षेत्र के अन्दर रहना होता है। जैसे—दफ्तर में एक व्यक्ति 'अफसर' से सम्बन्धित कार्य करता है। अत: उस कार्य का क्षेत्र दफ्तर तक ही सीमित है, अगर वह परिवार या क्लब में भी अपनी अफसरी झाड़ने लगे तो क्लेश होने की सम्भावना रहती है।

(7) सामाजिक प्रत्याशाओं के शत-प्रतिशत अनुरूप कार्यों को सभी लोग नहीं निभाते हैं या निभा नहीं पाते हैं। पिता के रूप में एक व्यक्ति से तो समाज बहुत-कुछ आशाएँ करता है, पर सभी पिता उन आशाओं को पूरा नहीं कर पाते हैं। कुछ पिता अधिकांश आशाओं के अनुसार कार्य करते हैं, कुछ पिता कुछ आशाओं को पूरा कर पाते हैं और कुछ पिता आशाओं के विपरीत भी क्रियाशील रहते हैं। मानव-व्यवहार में यह स्वाभाविक भी है। मानव

Scanned with CamScanner

मशीन नहीं है और न ही मशीनों की भाँति नियमों के हूबहू पालन की आशा उससे की जा सकती है। थोड़ा-बहुत संशोधन या परिवर्तन करने की छूट तो उसे मिलनी ही चाहिए और मिलती भी है। इसीलिए **श्री फिचर** ने लिखा है कि **"वास्तविकता यह है कि प्रत्येक 'कार्य' (role) का एक सामान्य स्वरूप (generalized form) होता है और व्यक्ति इस सामान्य स्वरूप से अधिक दूर न हटकर इसमें थोड़ा-बहुत संशोधन करता रहता है।"**[1]

(8) अन्त में, सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सभी कार्य (role) समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होते हैं। अत: महत्वपूर्ण कार्यों को **प्रमुख कार्य** (key roles) तथा साधारण कार्यों को **सामान्य कार्य** (general roles) कहा जाता है। प्रमुख कार्य सामाजिक अस्तित्व व संगठन के लिए आवश्यक होते हैं, जबकि सामान्य कार्य दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जरूरी माने जाते हैं।

प्रस्थिति तथा कार्य के निर्धारण के आधार (Basis of Determination of Status and Role)

प्रस्थिति तथा कार्य के निर्धारण में कुछ महत्वपूर्ण कारकों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) **लिंग-भेद** (Sex Dichotomy)—संसार की विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी-न-किसी रूप में स्त्री और पुरुष की स्थितियों और कार्यों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं। प्राणिशास्त्रीय आधारों पर इस प्रकार के अन्तरों को समझाया जा सकता है। साथ ही, इस प्रकार के अन्तरों का कारण सांस्कृतिक भी हो सकता है। प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति पुरुष से प्राय: नीची समझी जाती है और यूरोपीय समाजों में भी इसी आधार पर उनको निर्बल, भावुक, धार्मिक एवं अन्धविश्वासी माना गया है, जबकि पुरुषों को तार्किक, उदार, प्रगतिशील तथा साहसी माना जाता है। अनेक समाजों में यह सोचा जाता है कि नारी अबला और शक्तिहीन होती है और उसे प्रत्येक दशा में, जन्म से लेकर मृत्यु तक, किसी-न-किसी पुरुष के संरक्षण (protection) की आवश्यकता होती है। अनेक संस्कृतियों में धर्म और जादू के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक गिरी हुई है। उदाहरणार्थ, नीलगिरि की विशुद्ध पशुपालक टोडा जनजाति स्त्रियों को मासिक-धर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य मानती है; स्त्रियाँ इस जनजाति की भैंस-गायों के पास तक नहीं जा सकतीं। इनके मुख्य पुरोहित **'पोलोल'** को अविवाहित रहना पड़ता है। हिन्दू-समाज में भी पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों की स्थिति कहीं अधिक गिरी हुई है। इसके विपरीत कुछ ऐसी संस्कृतियाँ भी हैं जहाँ धर्म और जादू के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षतया ऊँची है। उदाहरणार्थ, असोम की पहाड़ियों में बसने वाली खासी जनजाति में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची है। इनके अधिकतर देवताओं के नाम भी स्त्री-लिंग हैं। सम्पत्ति भी उत्तराधिकार के रूप में माता से पुत्री को ही मिलती है। धार्मिक अनुष्ठान को स्त्रियाँ ही करती हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र में भी शासन-प्रबन्ध स्त्रियों के ही हाथों में होता है। कार्यों के सम्बन्ध में भी स्त्री-पुरुष में भेद प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक दोनों ही आधारों पर हो सकता है। प्राणिशास्त्रीय आधार को ही ले लीजिए। स्त्रियों को मासिक-धर्म होता है, पुरुषों को नहीं। बच्चों को गर्भ में रखने और जन्म देने का कार्य स्त्रियाँ ही करती हैं; पुरुष नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति के अनुसार स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थितियाँ तथा उनसे सम्बन्धित पृथक्-पृथक् कार्य निश्चित करता है, यद्यपि हर समाज में यह विभाजन समान नहीं होता।

(2) **आयु-भेद** (Age-Difference)—आयु के आधार पर भी स्थिति-भेद संसार के प्रत्येक समाज या संस्कृति में पाया जाता है। किसी छोटे बच्चे की स्थिति वह कदापि नहीं हो सकती जो एक बूढ़े व्यक्ति की है। इसी प्रकार किशोर, युवा, प्रौढ़ आदि की भी स्थितियाँ प्राय: समाज में अलग-अलग होती हैं। यह हो सकता है कि किसी समाज में बच्चों का (जैसे हिन्दुओं के लड़के का) महत्व अत्यधिक हो परन्तु उन्हें वह सम्मान शायद कोई भी समाज नहीं देता जो प्रौढ़ या वृद्धों को। **श्री सिम्मन्स** (Simmons) अपने अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राय: सभी समाजों में प्रौढ़जनों की स्थिति सम्मान, आदर-भाव तथा विशेष सुविधाओं की होती है और वह केवल इसलिए कि उनकी आयु अधिक होती है परन्तु यहाँ दो बातें मुख्य रूप से ध्यान रखने की हैं—**प्रथम** तो यह है कि केवल आयु ही नहीं बल्कि आयु से सम्बन्धित अनुभव एवं ज्ञान भी व्यक्ति की स्थिति को ऊँचा उठाने का कारण बनता है। वयस्क लोगों का आदर इस कारण भी होता है कि अनेक सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने की दिशा में उनका ज्ञान और अनुभव उपयोगी सिद्ध होता है। आयु के आधार पर स्थिति-भेद के सम्बन्ध में **द्वितीय** बात यह है कि इस आधार पर प्रौढ़ या बूढ़े पुरुषों को बूढ़ी स्त्रियों की अपेक्षा अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि **'घर से बाहर'** के क्षेत्र में अर्थात् राजनीति, सरकार, धर्म और आर्थिक संगठन में

1. J.H. Fichter, op. cit., p. 205.

Scanned with CamScanner

स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का अधिक सक्रिय योग होता है। साथ ही, इन क्षेत्रों में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के साधन भी उन्हें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

(3) **नातेदारी** (Kinship)—लिंग तथा आयु के अतिरिक्त व्यक्ति को नातेदारी के आधार पर भी कुछ विशेष पद प्राप्त होते हैं। बचपन से ही माता-पिता की सामाजिक स्थिति के अनुरूप स्थिति बच्चे को प्राप्त हो जाती है। राजा का बेटा राजकुमार कहलाता है और रंक का बेटा फकीर। वास्तव में माता-पिता की स्थिति के अनुसार बच्चे की स्थिति की तुलना करना भी अत्यधिक विवादास्पद विषय है, क्योंकि किसी व्यक्ति की विभिन्न क्षमताओं का सम्बन्ध उसके बच्चों के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। प्रतिभाशाली व्यक्तियों के बच्चे मूर्ख भी होते हैं तथा मूर्ख व्यक्तियों या निर्धन परिवारों के बच्चे उन्नति की चरम सीमा पर भी पहुँच सकते हैं। फिर भी नातेदारी की व्यवस्था कुछ विशेष सामाजिक स्थितियाँ प्रदान करने में महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। नातेदारी की व्यवस्था से ही व्यक्ति को माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, चाचा-चाची, मामा-मामी, ताऊ-ताई, दादा-दादी की स्थिति प्राप्त होती है। इन समस्त स्थितियों से सम्बन्धित निश्चित कार्यों का भी निर्धारण नातेदारी की व्यवस्था के द्वारा ही होता है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण-संस्कार का अधिकार बुआ को ही होता है। कुछ जनजातियों में तो दाह-संस्कार का भी अधिकार बुआ को ही होता है। हिन्दुओं में यह अधिकार पुत्रों को और उनमें भी सबसे बड़े पुत्र को ही प्राप्त होता है।

(4) **सम्पत्ति-भेद** (Distinction of Wealth)—व्यक्ति की स्थिति को निश्चित करने में सम्पत्ति निश्चित ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है। प्राय: यह देखा जाता है कि जिन लोगों में और कोई गुण नहीं होते, वे केवल मात्र सम्पत्ति पर अधिकार के कारण समाज में ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। **श्री कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) का कथन है कि सम्पत्ति समाज को दो मोटे वर्गों में विभाजित कर देती है—**एक** तो यह वर्ग जिसके पास सम्पत्ति या धन या पूँजी होती है और **दूसरा** वह वर्ग जो सम्पत्तिविहीन होता है। सम्पत्ति के मालिक होने या न होने के आधार पर व्यक्ति को निश्चित स्थिति, प्रतिष्ठा एवं कार्य प्राप्त होते हैं। धनवान वर्ग के सदस्यों की सामाजिक स्थिति ऊँची होती है। वे शासक और शोषक दोनों ही होते हैं, जबकि सम्पत्ति-विहीन वर्ग के सदस्य केवल श्रमिक होते हैं और अपने श्रम को बेचकर ही अपना पेट पालते हैं; श्रमिक शासित तथा शोषित दोनों ही होता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में, सामाजिक स्थिति का निर्धारण करने में वास्तव में धन का महत्व अत्यधिक होता है परन्तु ऐसे भी कुछ जनजातीय (tribal) समाज हैं जिनमें व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा या ऊँची स्थिति तब प्राप्त करता है जब वह सम्पत्ति का अधिकाधिक त्याग कर देता है। भारत में अनेक शिकार करने वाली जनजातियों में उस व्यक्ति को नेता और आदरणीय समझा जाता है, जो अपने धनुष-बाण को, पशुओं की खाल को या पालतू पशुओं को अपने मित्रों, पड़ोसियों और अतिथियों को दे देने की क्षमता रखता है। अमरीका के इण्डियनों के लिए सम्पत्ति का त्यागना ही महानता है और उसे इकट्ठा करना मूर्खता है। आधुनिक समाजों में भी केवल 'बैंक बेलेन्स' बढ़ाने से ही सामाजिक स्थिति उन्नत नहीं हो जाती, जब तक कि पोशाक, मोटरकार, मकान, नौकर-चाकर आदि के माध्यम से उस सम्पत्ति का बाहरी दिखावा न किया जाये।

(5) **अन्य आधार** (Other Basis)—सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने में शिक्षा, साहस, खेल-कूद की योग्यता, व्यवसाय, राजनीतिक अधिकार, आविष्कार की योग्यता, कलात्मक गुण आदि भी आधुनिक समाज में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। **शिक्षित व्यक्तियों** की सामाजिक स्थिति अनपढ़ लोगों से निश्चित ही ऊँची मानी जाती है। इसी प्रकार **साहस** भी सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण है। युद्ध क्षेत्र में जो जवान अपूर्व साहस का परिचय देते हैं, उन्हें समाज एवं सरकार नाना प्रकार से पुरस्कृत और सम्मानित करते हैं और इस प्रकार उनकी स्थिति उच्च होती है। इसके अतिरिक्त **खेलकूद की योग्यता** भी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध होती है। राष्ट्र के अच्छे-अच्छे खिलाड़ी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उच्च स्थिति रखते हैं। **सर्वश्री सुनील गावस्कर, जयदीप मुकर्जी, ध्यानचन्द, मिहिरसेन, अमृतराज, कपिलदेव, सचिन तेंदुलकर**, सहवाग, धोनी, बिन्द्रा आदि की स्थिति की कल्पना मात्र से ही हमें गर्व का अनुभव होता है। **व्यवसाय** भी स्थिति का निर्धारण करता है। इसका कारण यह है कि कुछ व्यवसायों को सामाजिक दृष्टि से उच्च कोटि का माना जाता है और कुछ को निम्न कोटि का। भारत में आई. ए. एस. अधिकारी की सामाजिक स्थिति साधारण अधिकारी (Officer) की स्थिति से ऊँची मानी जाती है। आधुनिक समाज में **राजनीतिक अधिकार** के आधार पर भी सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। राजनीतिक क्षेत्र में, विशेषकर प्रजातन्त्र में, एकाधिक राजनीतिक दल समाज में पनप जाते हैं। इनमें से

Scanned with CamScanner

एक पक्ष के हाथों में शासन-संचालन का भार रहता है, जबकि अन्य दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हैं। केवल शासक दल के प्रमुख सदस्यों की ही नहीं बल्कि विरोधी दल के प्रमुख सदस्यों की सामाजिक स्थिति भी ऊँची होती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी नयी चीज का **आविष्कार** करने में सफल होता है, उसकी भी सामाजिक स्थिति ऊँची हो जाती है और अनेक युगों तक उसका नाम दोहराया जाता है। **सर्वश्री न्यूटन, कोलम्बस, गैलीलियो, स्टीवेन्सन, मार्कोनी, आइन्स्टाइन** आदि के नाम आज भी श्रद्धा से लिये जाते हैं। इसी प्रकार विशेष **कलात्मक गुण** भी व्यक्ति की स्थिति निश्चित करते हैं। संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्रकला, साहित्य आदि विषयों में जो व्यक्ति विशेष योग्यता रखते हैं, उनकी सामाजिक स्थिति वास्तव में ऊँची समझी जाती है। **सर्वश्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, निराला, विसमिल्लाह खाँ, अशोक कुमार, मनोज कुमार, राजेन्द्र कुमार, अमिताभ बच्चन, शाहरुख खान, मीनाकुमारी, किशोर कुमार, कल्याणजी आनन्दजी, सचिन देव बर्मन, कुमार गन्धर्व, पण्डित रविशंकर** आदि को समाज में उच्च स्थान ही प्राप्त है। इतना ही नहीं, **जातीय तथा प्रजातीय आधार** (racial basis) पर भी स्थिति निर्धारित हो सकती है, यद्यपि इसका कोई वैज्ञानिक औचित्य नहीं है। भारत में ब्राह्मण की स्थिति अन्य किसी भी जाति से श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी प्रकार अमेरिका में नीग्रो प्रजाति के सदस्यों की सामाजिक स्थिति श्वेत प्रजाति (white race) के सदस्यों की स्थिति से कहीं निम्न समझी जाती है।

व्यक्ति के जीवन में प्रस्थिति एवं भूमिका (कार्य) का महत्व (Importance of Status and Role in Individual's Life)

व्यक्ति की स्थिति तथा कार्य उसके जीवन को कहाँ तक एवं किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित तीन आधारों पर किया जा सकता है—

(1) प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति एक विशेष सामाजिक परिस्थिति से सम्बन्धित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की स्थिति की कल्पना तब तक नहीं की जा सकती, जब तक उससे सम्बद्ध परिस्थिति के विषय में जान न लिया जाये। उदाहरणार्थ, यदि हम केवल यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को पिता की स्थिति प्राप्त है तो हमारा कहना तब तक पर्याप्त नहीं होगा जब तक हम यह भी न बतायेंगे कि वह किस प्रकार की सामाजिक परिस्थिति में पिता है? यदि वह ऐसे समाज में पिता है जहाँ पिता की तुलना में मामा का महत्व अधिक है तो उस पिता की स्थिति हिन्दू-समाज के 'एक पिता' की स्थिति से बिल्कुल ही भिन्न होगी। जिस सामाजिक परिस्थिति में बच्चे पिता की अपेक्षा मामा को अधिक 'अपना' मानते हैं, वहाँ बच्चों के प्रति पिता की मनोवृत्ति उदार न होकर उदासीन (indifferent) होती है। दक्षिण अफ्रीका की थोंगा (Thonga) जनजाति में पिता बच्चे के मामले में अपने को उतना अधिक उत्तरदायी नहीं समझता जितना भारतीय पिता क्योंकि मामा का घर बच्चों के लिए 'द्वितीयक स्वर्ग' (Secondary Heaven) होता है। ट्रोबियण्ड प्रायद्वीप के निवासियों में तो पिता के स्नेह तथा मामा के कर्तव्य के बीच प्रायः संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह कि पिता की स्थिति में रहते हुए व्यक्ति अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध में इतना सचेत हो सकता है कि अपने बच्चों को मामा के घर भेजने की बजाय अपने पास रखना अधिक पसन्द करे। उस अवस्था में मामा और पिता की स्थितियों तथा कार्यों के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और उनके जीवन व विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(2) स्थिति तथा कार्य का प्रभाव व्यक्ति के विचारों, मनोभावों एवं सम्पूर्ण जीवन पर इस रूप में भी पड़ता है कि एक ही स्थिति वाले सभी मिलकर एक स्थिति-समूह का निर्माण करते हैं। इस स्थिति-समूह को परस्पर क्रियाओं के दौरान अपने कुछ नियम, परम्पराएँ तथा दृष्टिकोण आदि विकसित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, श्रमिकों के स्थिति-समूह को ही लीजिए। श्रमिक अपना श्रम बेचकर अपने जीवन का निर्वाह करता है। यह श्रम उसे पूँजीपतियों के द्वार पर बेचना पड़ता है। पूँजीपति वर्ग अपनी विशेष स्थिति के कारण श्रमिक की इस लाचारी को अच्छी तरह समझता है और उससे लाभ उठाता है। वह नाममात्र का वेतन देकर उसका श्रम खरीद लेता है, उससे अधिक धन पैदा करता है, उस धन का अधिकांश भाग स्वयं हड़प जाता है, श्रमिक का जी-भर शोषण करता है और उन्हें रोटी, कपड़े तक के लिए तरसा डालता है। श्रमिक की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को इस अन्याय, अत्याचार या शोषण का शिकार बनना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसे गरीबी व संघर्ष का जीवन बिताना पड़ता है। फलतः पूँजीपतियों के प्रति ही नहीं अपितु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रति उसकी मनोवृत्ति घृणा, अनादर तथा निराशा की हो जाती है। इसके विपरीत पूँजीपतियों की स्थिति प्राप्य व्यक्तियों का जीवन खूब ऐश-आराम का होता है और उनकी मनोवृत्ति श्रमिकों के प्रति अवहेलना, हेय भाव तथा उपेक्षा से भरपूर होती है। वे यह सोचने लगते

Scanned with CamScanner

हैं कि श्रमिकों का शोषण करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है और दुःख, दर्द और दरिद्रता के उत्पीड़न को सहन करना ही श्रमिकों के भाग्य में लिखा है। इस रूप में भी स्पष्ट है कि व्यक्ति के जीवन में उसकी स्थिति तथा कार्य का अत्यधिक महत्व होता है।

(3) इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि व्यक्ति की स्थिति के साथ जो सामाजिक मूल्य जुड़ा होता है, उसका भी प्रभाव व्यक्ति के जीवन, विचारों व भावनाओं पर पड़ता है। इस मूल्य (value) का निर्धारण एक समाज विशेष की अपनी संस्कृति के द्वारा ही होता है। इस मूल्य से सम्बन्धित कुछ आदर्श व्यवहार-प्रतिमान (ideal behaviour pattern) होते हैं। व्यक्ति जब इन प्रतिमानों को स्वीकार कर लेता है तो उसका जीवन, विचार व भावनाएँ भी उसी रंग में रंग जाती हैं। हिन्दू पत्नी की स्थिति एवं कार्यों को लीजिए। भारतीय संस्कृति उसकी स्थिति से सम्बन्धित कुछ विशेष मूल्य एवं आदर्श पस्तुत करती है, जैसे—पत्नी के रूप में सती-धर्म का पालन, सास-ससुर की सेवा, पति की देवता रूप में पूजा, माँ के कर्तव्यों का सच्चाई से निर्वाह, त्याग, दया और सेवा आदि को जीवन का आधार मानना। इन आदर्शों या मूल्यों को स्वीकार करने का अर्थ होता है—नाना प्रकार के विशिष्ट मनोभावों का पोषण करना एवं अपने जीवन को एक निश्चित साँचे में ढालना। इसलिए हिन्दू-पत्नी अपने पति को देवता मानती है, सास-ससुर को परम गुरु तथा सती-धर्म को जीवन का आधार। यही कारण है कि एक हिन्दू नारी के पति, सास-ससुर व जीवन के प्रति जो मनोभाव व व्यवहार-प्रतिमान होते हैं, वे इन्हीं सबके प्रति किसी भी अंग्रेजी पत्नी के मनोभावों व व्यवहार से बिल्कुल भिन्न हैं। इसी प्रकार धनी वर्ग अपनी विशेष स्थिति के कारण ही निर्धनों के साथ एक विशेष ढंग से व्यवहार करते हैं। ब्राह्मण अपनी स्थिति के कारण ही अपने को धर्म का 'ठेकेदार' समझता है, वृद्धजन अपनी स्थिति के कारण ही अल्पवयस्क व्यक्तियों को 'नादान' समझते हैं और पुरातन विचारों वाला हिन्दू-पति अपनी स्थिति के आधार पर ही अपनी पत्नी को दासी समझने की धृष्टता करता है। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्ति की स्थिति तथा कार्य का उसके मनोभावों, विचारों तथा व्यवहारों के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। व्यक्ति जो कुछ है और वह जो कुछ करता है, वह आधार है जिस पर अपने विचारों, भावनाओं, व्यवहारों का महल खड़ा करना है, कुछ लेता है और कुछ देता है।

Scanned with CamScanner